आखर हिंदी पत्रिका ; e-ISSN-2583-0597 खंड 2/अंक 1/मार्च 2022
Received: 05/03/2022; Accepted: 05/03/2022; Published: 24/03/2022

हिन्दी साहित्य में विकलांग जीवन: रचनात्मक अभिव्यक्ति

डॉ. साधना वर्मा
फोन : 8368417738
ईमेल : lsr.sadhana@gmail.com

डॉ. साधना वर्मा, **हिन्दी साहित्य में विकलांग जीवन: रचनात्मक अभिव्यक्ति**, आखर हिंदी पत्रिका, खंड 2/अंक 1/मार्च 2022,(11-19)

शोध सार : विकलांगता तथा मानव जीवन का परस्पर गहन संबंध है। सभ्यता और संस्कृति के उद्भव एवं विकास के साथ ही विकलांगता ने भी मानव जीवन को प्रभावित करना आरम्भ कर दिया था। मनुष्य अपनी आदिम अवस्था में जब वनों में रहता था तब जंगली पशुओं के साथ मुठभेड़ में वह घायल हो जाता था परिणामस्वरूप वह विकलांग हो जाता था। ठीक इसी तरह प्राकृतिक आपदाओं, युद्धों एवं भयावह दुर्घटनाओं के कारण भी वह प्रायः विकलांगता को प्राप्त हो जाता है। परंतु एक बार विकलांगता को प्राप्त होने के पश्चात् मनुष्य का जीवन तो समाप्त नहीं होता है, बल्कि उसकी चुनौतियाँ एवं जीवन संघर्ष कई गुना बढ़ जाते हैं। इस शोध लेख द्वारा विकलांगता के समस्त पहलुओं पर दृष्टिपात करते हुए उसके साहित्यिक सहभागिता पर अत्यधिक बल दिया गया है, ताकि साहित्य के माध्यम से विकलांग जीवन के संघर्षों, चुनौतियों एवं समस्याओं की विशद व्याख्या की जा सके।

बीज शब्द : विकलांगता, सुमेरियन, उमुल, संघर्ष आदि।

प्रस्तावना : साहित्य का फलक अपलक मृग मरीचिका क्षितिज निहारने जैसा है। अस्मितामूलक विमर्शों के दौर में इज़ाफ़ा विषयों से अधिक दृष्टिकोण में हुआ है। तत्कालीन से होकर मध्यकालीन से गुज़र कर समकालीन साहित्य नए विमर्शों की मांग करता है। भविष्यकालीन स्वस्थ समाज निर्माण हेतु। हजारों वर्षों की इन उपलब्धियों में गद्य-पद्य की विधाओं में नए कला रूपों का जुड़ते जाना विकासशील और विवेकशील समाज का परिचायक है। ऐसे में आज तलाशने का दौर आया, जिसकी दस्तक हजारों वर्षों पहले से रही पर विचार-विमर्श

के लिए 'विमर्श' शब्द अंकित अब हुआ है। इसी प्रकार स्त्री विमर्श से चलकर, दलित विमर्श से बढ़कर, आदिवासी विमर्श' को छूकर, विकलांग विमर्श हमारे सामने खड़ा है।

समकालीन समय में जब हिन्दी साहित्य में विकलांगों पर लिखे साहित्य को देख रही हूँ तो मन में अनेक प्रश्न उठते हैं कि वैश्विक साहित्य में विकलांग साहित्य की कितनी भागीदारी है? व्यवहारिक संसार में कितनी हिस्सेदारी है? इनकी भारतीय साहित्य विशेषकर हिन्दी साहित्य में कितनी उपस्थिति है? हमारा समाज और परिवार विकलांग व्यक्तियों के प्रति कितना संवेदनशील है? उनके लिए जीवन को कितना आसान किया गया है ताकि उनको भी दायित्व निभाने की पात्रता प्राप्त हो। उक्त समस्त पहलुओं पर बात रखने के दौरान संभव है की हिन्दी साहित्य में विकलांग विमर्श को समग्रता में परखना अत्यधिक उम्मीद की टकटकी लगाने जैसा हो। परंतु वास्तव में साहित्य का कार्य इन्हीं सभी संभावनाओं की पड़ताल करना है।

'विकलांगता' और 'साहित्य' का उतना ही घनिष्ट संबंध है, जितना 'व्यक्ति' और 'समाज' का। विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से 'सुमेरियन' नामक सभ्यता के अंतर्गत उमुल नामक प्रथम विकलांग व्यक्ति का उल्लेख हुआ है। महत्त्वपूर्ण यह है कि इस सभ्यता की सामाजिक व्यवस्था इतनी सुदृढ़ और सुनियोजित थी, कि समाज में विकलांगों की सहभागिता अनिवार्य थी। परंतु मानव सभ्यता के विकास के साथ ही सहयोगी दृष्टिकोण में परिवर्तन हुए। प्राचीनकाल में जब कोई विकलांग शिशु जन्म लेता, तो समाज इस कदर पीड़ित हो जाता था कि मानवता को मुँह छिपाना पड़ जाता था। पश्चिम में (यूनान और स्पार्टा) में तो नवजात नेत्रहीन और मन्द-बुद्धि शिशुओं को मार देने की कुरीति का प्रचलन था। राजनीतिशास्त्र के जनक अरस्तू ने भी इस मानवता विरोधी बात का पुरजोर समर्थन किया था। यूनान के प्राचीन कवि होमर का नाम पहले मिलसगनी था अर्थात मेल नदी का पुत्र पर जब वे नेत्रहीन हो गए, तो समाज ने उनका नाम रख दिया होमर, जिसका तात्कालिक भाषा में शाब्दिक अर्थ होता है अंधा।

उपरोक्त प्रसंगों के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि विकलांगों के प्रति कभी भी हमारा समाज उदारचेता अथवा सकारात्मक दृष्टि सम्पन्न नहीं रहा है। प्राचीन काल से ही विकलांगता को समाज और मानव जाति के लिए एक जटिल किंतु कभी न समाप्त होने वाली समस्या मानकर उन्हें सामाजिक भागीदारी से वंचित रखा गया है। कालांतर में समाज और मानव दृष्टिकोण में किंचित परिवर्तन हुए तो परंतु स्थितियथावत बनी हुई है, जिसका प्रमाण हमें साहित्य के द्वारा प्राप्त होता है।

'हिन्दी साहित्य का पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) जिसे हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग कहा जाता है; इस युग की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ वैषम्यपूर्ण होते हुए भी इस युग का साहित्य जनमानस को नई जीवन दृष्टि तथा समाज को एक साथ लेकर चलने की बात करता है। सूरदास और जायसी जैसे 'महाकवि' शारीरिक रूप से अक्षम होते हुए भी अपनी साहित्यिक प्रतिभा के बल पर पूरी दुनिया को लोहा

मनवाया। सूरदास ने अपनी बंद आँखों से 'कृष्ण लीला' के ऐसे चित्र खींचे, जो असंभव प्रतीत होते हैं। सूर ने चाक्षुश बिम्बों का जैसा परिपूर्ण, प्रत्यक्ष, सटीक और सार्थक प्रयोग किया है। वे रूप विधान की दृष्टि से चाक्षुशगत होने पर भी संभव है। सूर के हृदय जगत के सभी रूप चाहे वह सचेतन प्राणी जगत के हों और चाहे जड़ प्रकृति के हों। इस रूप में अंकित किए गए हैं कि उनका अंग-प्रत्यंग, रोम-रोम, रेशा-रेशा, क्रिया-क्लाप, हाव-भाव, ज्यों का त्यों नेत्रों के समक्ष उपस्थित हो जाता है।

वस्तुतः सूरदास की प्रतिभा का उत्कर्ष 'सूरसागर के दसवें स्कंध' में दिखाई देता है। इसमें कृष्ण की बाल और यौवन की लीलाएं वर्णित हैं। इसमें पाँच विषयों पर सूर की दृष्टि केंद्रित है। 'बाल लीला, गोचारण, वंशी वादन, रास और भ्रमरगीत।' बाल लीला का एक उदाहरण दृष्टव्य है- 'सोभित कर नवनीत लिए, घुटरुन चलत रेणु तन मण्डित मुख दधि लेप किए'[1] खेल में सुदामा कृष्ण को फटकारते हैं- 'खेलत में काको गोसैया जाति-पातिते कछु नाहि न बसत तुम्हारी छैंया'[2] दृश्यपट पर उभरते बाल लीला की इतनी सजीव बिम्बावलियाँ कहाँ मिलेंगी।

इसी प्रकार जायसी ने भी अपनी काव्य प्रतिभा का परिचय दिया। वे देखने में कुरूप थे। उनकी बाई आँख और बाया कान नष्ट हो चुके थे। वे अपनी विकलांगता को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं- 'मुहमद बाई दिसितजी, एक सखन एक आँख। जबते दाहिन होय मिला, बोल पपिहा पाख।'[3] विकलांग होने में ईश्वर का कोई संदेश निहित है। जब से प्रेम मार्ग में चलकर प्रियतम के दर्शन किए, तब से वाम मार्ग की बात सुनना छोड़ दिया। 'बोल पपिहा पाख' अरथात पपिहा पक्षी की बोली पियु या प्रीयतम ध्यातव्य है की इस दोष के भीतर आनन्द पूर्ण समाहित है। एक नेत्र वाले मुहम्मद का काव्य जिसने सुना मुग्ध हो उठा। बड़े-बड़े रूपवन्त और कलाकार भी उसकी काव्य प्रतिभा का लोहा मानने लगे। वे कहते हैं कि- 'मेरी एक आँख और एक कान हर कर विधाता ने मुझे कुरूप तो बनाया पर चंद्रमा में कलंक देकर उसे उज्ज्वल भी बनाया। ऐसे ही मुझमें काव्य गुण प्रदान किया है। एक नेत्र से मुझे इतना तेज मिला है, जितना नक्षत्रों में शुक्र को। उसी से संपूर्ण संसार दिखता है।'[4] जायसी ने अपनी कुरूपता को अपनी कमजोरी नहीं अपितु उसे अपनी ताकत बनाया और साहित्य साधना के रूप में उनकी यह क्षमता संसार के सम्मुख प्रदर्शित हुई।

[1] मैनेजर पांडेय, ' भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य', पृ. 89
[2] वही पृ. 90
[3] बच्चन सिंह, ''हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास', पृ. 103
[4] वही पृ.

इस युग में जहाँ एक ओर हम 'संत काव्य-धारा' के रूप में 'दलित साहित्य' और 'दर्द दीवानी' मीरा के 'प्रेम काव्य' के रूप में 'स्त्री साहित्य' का प्रारम्भिक रूप देखते हैं। वहीं दूसरी ओर सूर और जायसी के साहित्य में भी विकलांग जीवन संबंधी साहित्यिक अभिव्यक्ति मिलती है। परंतु आश्चर्यजनक बात यह है की 'भक्तिकाल' के पश्चात 'आधुनिक काल' में लगभग 500 वर्षों के उपरांत हिन्दी साहित्य में 'विकलांग जीवन को आधार बनाकर छिटपुट प्रयास देखने को मिलते हैं, ऐसा तो नहीं कि इतनी लम्बी कालावधि के बीच कोई विकलांगता समूल रूप से हमारे समाज से समाप्त हो गई हो अथवा इस विषय पर हमारे साहित्यकारों और साहित्य की दृष्टि न गई हो। बहरहाल यह शोध और आलोचना का विषय है।

प्रत्येक युग का साहित्य अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों से प्रभावित होता है और उन्हें प्रभावित भी करता है। विकलांगों के जीवन संघर्ष एवं अधिकारों को आधार बनाकर पश्चिम में साहित्य लेखन के साथ-साथ विकलांग व्यक्तियों के अधिकार हेतु राजनीतिक आंदोलन भी हो रहे थे। परंतु हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम इसकी अभिव्यक्ति प्रेमचंद रचित 'रंगभूमि' (1925) में हुई। पहली बार कथा साहित्य में सूरदास जैसे दृष्टिहीन पात्र को उपन्यास का नायक बनाया गया। सूरदास उन जुझारू चरित्रों में से है, जो जीवन के संघर्ष से कभी हार नहीं मानते और विकलांगता के बावजूद राष्ट्र तथा समाज के सभी क्षेत्र में बड़े ही उत्साह एवं जिम्मेदारी के साथ भाग लेते हैं। सूरदास का यह संघर्ष मृत्यु पर्यन्त चलता है। उसका यह चरित्र मिठुआ से बात-चीत में झलकता है- "मिठुआ- दादा अब हम रहेंगे कहाँ? सूरदास- दूसरा घर बनाएंगे। मिठुआ और जो फिर आग लगा दे? सूरदास- तो फिर बनाएंगे। मिठुआ- और जो फिर लगा दे? सूरदास- तो हम भी फिर बनाएंगे। मिठुआ- और जो हजार बार लगा दे? सूरदास- तो हम हजार बार बनाएंगे। मिठुआ- और जो कोई सौ लाख बार लगा दे? सूरदास- तो हम भी सौ लाख बार बनाएंगे।"[5]

यद्यपि प्रेमचंद का 'रंगभूमि' लिखने का मूल उद्देश्य 'विकलांग विमर्श' कदाचित नहीं था। परंतु यहाँ रचनाकार का उद्देश्य महत्त्वपूर्ण नहीं अपितु उसकी अभिव्यक्ति महत्त्वपूर्ण है। हमारे समाज में विकलांगता के प्रति सदियों से नकारात्मक दृष्टि, संकीर्ण मानसिकता, रूढ़िवादी विचारधारा तथा दया जैसे भाव विद्यमान रहे हैं। यदि कोई विकलांग है, तो अवश्य ही उसने पूर्व जन्म में पाप किए होंगे। विकलांगता के आधार पर किसी व्यक्ति का नामकरण और रोजगार तय करना यह किसी भी सभ्य समाज की नकारात्मक और रूढ़िवादी मानसिकता की उपज है, जिसके प्रभाव से स्वयं प्रेमचंद भी बच नहीं सके- "भारत वर्ष में अंधे आदमियों के लिए न नाम की जरूरत होती है न काम की। सूरदास उनका बना बनाया नाम है और भीख मांगना बना बनाया काम

[5] प्रेमचंद, 'रंगभूमि', पृ. 135

है। उनके गुण तथा स्वभाव भी जग प्रसिद्ध हैं। गाने-बजाने में विशेष रूचि, हृदय में विशेष अनुराग, अध्यात्म और भक्ति में विशेष प्रेम। उनके स्वभाविक लक्षण हैं।"[6]

परंतु वही दृष्टिहीन सूरदास विरासत में मिली अपनी ज़मीन को बिचौलियों के हाथ नहीं बेचता और न ही अपने सिद्धान्तों से समझौता ही करता है। भले ही उसे अपने प्राण गवाने पड़ते हैं। इस भाव-भूमि पर पहुंचकर प्रेमचंद विकलांगों के प्रति समाज एवं साहित्य की पारम्परिक जड़ मानसिकता को चुनौती देते हैं और यही एक संवेदनशील साहित्यकार का समाज के प्रति दायित्व भी है कि वह समाज की जड़ताओं को तोड़े और नवीन दृष्टि प्रदान करे।

'परिवार ही समाज की लघुतम इकाई है।' किसी भी व्यक्ति के अस्तित्व के स्वीकार-अस्वीकार का प्रश्न सर्वप्रथम उसके परिवार से जुड़ा होता है। परिवार में रहने वाले प्रत्येक सदस्य की अपनी एक भूमिका होती है। किंतु शारीरिक अक्षमता के कारण किसी व्यक्ति की भूमिका अथवा उसके अस्तित्व को नकार दिया जाय, तो ऐसे में व्यक्ति कुंठित हो जाता है या उसका सम्पूर्ण जीवन बोझ बन जाता है। आज के इस 'नवपूंजीवाद' और 'उपयोगितावाद' के इस दौर में मनुष्य इतना स्वकेंद्रित हो गया है की हर जगह वह अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगा है। समाज व मानव से उसका कोई सरोकार नहीं। 'ज्यों मैँहदी को रंग' उपन्यास के पात्र दद्दा जी शर्मा जी से इसी परिवर्तित मानव मूल्य की ओर संकेत करते हैं- "खास कर इन अपंग लोगों के लिए पैसा और सहानुभूति देने की बात करते हो शर्मा। जब अपने लोग इनके ऊपर खर्च करना बेकार समझते हैं। बड़ी कठिनाई से इनकी जरूरते पूरी कर पाते हैं। तुम समाज और सरकार की क्या बात करते हो? मेरी संस्था में अनेक ऐसे रोगी आए हैं, जिनके घर वाले वहाँ उनकी अवहेलना करने लग गए थे। भरपेट भोजन नहीं देते और यथार्थ तो ये ही है कि तमाम अपंगों की आर्थिक समस्या सुलझ जाए तो वे दया के पात्र ही न रहे।"[7]

शिक्षा ही समाज, व्यक्ति और साहित्य की दिशा और गति निर्दिष्ट करती है। अलका सरावगी अपने उपन्यास 'कोई बात नहीं' (2004) में विकलांग व्यक्तियों की शिक्षा की समस्या को चित्रित किया है- "मौंटेसरी स्कूल की प्रिंसिपल मिसेज शाह ने उसे भरती करने से यह कहकर माँ को इनकार कर दिया था कि दूसरे बच्चों के माँ-बाप आपत्ति कर सकते हैं जैसे की शशांक को कोई छूत की या फैलने वाली कोई बीमारी हो।"[8]

आज भी वस्तुस्थिति में कोई विशेष अंतर दृष्टिगत नहीं होता। जब कोई विकलांग छात्र किसी सामान्य विद्यालय में दाखिला लेने जाता है, तो उसके अविभावक को विभिन्न प्रकार की समस्याओं का सामना करना

[6] वही पृ. 6
[7] मृदुला सिन्हा, 'ज्यों मेहँदी को रंग', पृ. 64
[8] अलका सरावगी, "कोई बात नहीं', पृ. 30

पड़ता है। जैसे हमारे यहाँ विकलांग छात्रों के लिए विशेष सुविधाएं और विशेष रूप से प्रशिक्षित शिक्षक नहीं हैं। इससे भी दु:खद बात यह है कि विद्यालय प्रशासन को यह लगता है की अगर हम विकलांग छात्रों को अपने यहाँ दाखिला देंगे तो हमारे विद्यालय में सामान्य बच्चें नहीं आएंगे। जब कि 'समावेशी शिक्षा' के तहत देश के सभी बच्चों को शिक्षा का समान अधिकार मिला है। इसी प्रकार 'उच्च शिक्षा' में भी विकलांग छात्रों को कई समस्याओं से जूझना पड़ता है। कड़ी मेहनत और योज्ञता के बल पर विकलांग छात्र विश्वविद्यालय में प्रवेश प्राप्त कर लेता है परंतु बुनियादी आवश्यकताओं (infrastructure) के अभाव के कारण वह अपनी कक्षा में नहीं पहुंच पाता। देश के कतिपय विश्वविद्यालय हैं जहाँ चन्द विकलांग छात्र शिक्षार्जन करते हैं और न जाने कितने ऐसे भी हैं, जो अशिक्षा के अंधियारे में गुम हो जाते हैं।

आज़ादी के पश्चात देश को जिन मूलभूत समस्याओं का सामना करना पड़ा, उनमें से 'बेरोजगारी' एक विषम समस्या के रूप मे मुँह बाए खड़ी थी। शहरों में औद्योगीकरण के कारण रोजगार के अवसर विकसित हुए, जिसके फलस्वरूप ग्रामों और कस्बों से लोगों ने शहरों की ओर पलायन किया। इन्हीं में से एक समूह उन विकलांग व्यक्तियों का भी था, जिनके पास उच्च शिक्षा तो थी लेकिन रोजगार का नितान्त अभाव था। सन् 1977 में श्री मोरारजी देसाई के शासन काल में दृष्टिहीन व्यक्तियों द्वारा किया गया आंदोलन इस दिशा में महत्त्वपूर्ण पहल थी, जिसने विकलांग व्यक्तियों के लिए रोजगार के अवसर प्रदान किए। दूसरी ओर उन विकलांग व्यक्तियों का समूह था, जिनके पास न तो शिक्षा थी और न ही रोजगार। ऐसी स्थिति में विवश होकर वे या तो भीख मांगते या आत्महत्या करते। लानत है ऐसी व्यवस्था पर जो अपने नागरिकों को रोजगार के अवसर प्रदान नहीं कर सकता।

रांगेय राघव की कहानी 'गूंगे', धर्मवीर भारती की कहानी 'गुलकी बन्नो', जैनेन्द्र कुमार की कहानी 'अंधे का भेद' आदि कहानियाँ विकलांग जीवन की इसी आर्थिक त्रासदी को उद्घाटित करती हैं। सूरदास इस कहानी का मुख्य पात्र है, जो अशिक्षा और बेरोजगारी के कारण अपना और अपने परिवार के पालन-पोषण हेतु भीख मांगता है, साथ ही समाज के लिए उपेक्षा, घृणा और मन बहलाव का माध्यम भी– "एक रोज वो गली में ही फिर मिला। लड़कों की टोलियों से घिरा हुआ। उन्हें हँसाता खुश करता चल रहा था। एक लड़के ने उसे अपने घर चलने का निमंत्रण दिया। वही उसकी लाठी पकड़े अपने घर ले जा रहा है। वो वहाँ वैसी ही बोलियाँ बोल देगा मोटर चला देगा अपनी घर वाली की बाते सुनाकर उन्हे हँसा देगा और दो-एक रूखी-सूखी जो पाएगा फिर घर ले आएगा। उसका यही व्यवसाय है।"[9] इसी प्रकार शैलेश मटियानी की कहानी 'दो दुखों का एक सुख' में चित्रित करमिया (कुष्ठ रोग से पीड़ित), सूरदास और मृदुला कानी जैसे पात्र गरीबी के कारण मन्दिर की सीढ़ियों पर बैठकर भीख मांगते हैं।

[9] कमलेश्वर, संपा. 'मेरी प्रिय कहानियाँ', पृ. 35

हिन्दी रचनाकारों ने जहाँ 'कथा-साहित्य' में विकलांग चरित्रों तथा उनकी समस्याओं को यथार्थ अभिव्यक्ति दी है। वहीं दूसरी ओर हिन्दी के 'नाटककारों' ने भी अपने नाटकों में विकलांग पात्रों को स्थान तो दिया है, साथ ही उनके व्याज से सामाजिक विसंगतियों एवं विकलांगता के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण को भी प्रस्तुत किया है। जयशंकर प्रसाद रचित 'ध्रुवस्वामिनी' (1933), धर्मवीर भारती रचित 'अंधायुग' (1954), भीष्म साहनी रचित 'हानुश' (1977) आदि नाटकों में न केवल विकलांग चरित्रों को साहित्य में शामिल किया गया, बल्कि उनके व्यवहारिक गुणों-अवगुणों पर प्रकाश डाला गया।

नाटककार जयशंकर प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' में गुप्त साम्राज्य का ऐतिहासिक परिवेश का चित्रण उकेरा है। प्राचीन और मध्यकाल में राजमहल एवं अंतःपुर में किन्नरों की नियुक्ति की जाती थी, क्योंकि वे शारीरिक रूप से बलवान होकर सेवक एवं रक्षक हो सकते थे। परंतु नपुंसक होने के कारण अंतःपुरवासिनी स्त्रियों के लिए किसी प्रकार का असुरक्षा का संदेह नहीं था। इस नाटक में 'हिजड़ा', 'कुबड़ा' और 'बौना' आदि विकलांग पात्र हैं। शकराज के आक्रमण से चारों ओर से घिरा क्लीव व कायर रामगुप्त अपनी पत्नी महारानी ध्रुवस्वामिनी को उपहार के रूप मे शत्रु को देने के लिए तैयार हो जाता है। रामगुप्त न पति की जिम्मेदारी न राजा के कर्तव्य से महारानी की रक्षा में युद्ध करने को तैयार होता है अपितु ध्रुवस्वामिनी के सम्मुख मनोरंजन के लिए नकली युद्ध का स्वांग प्रस्तुत करते हैं। कुबड़ा अपने घुटनों और हाथों के बल बैठ जाता है। हिजड़ा कुबड़े की पीठ पर बैठता है। बौना एक मोर्छल लेकर उसे तलवार की तरह घुमाने लगता है। हिजड़ा- "अरे! ये तो मैं हूँ नलकुबड़ की वधू दिग्विजयी वीर क्या तुम स्त्री से युद्ध करोगे? लौट जाओ कल आना"[10] बौना मोर्छल से पटा घूमाता हुआ "नहीं आज ही युद्ध होगा। तुम स्त्री नहीं हो। तुम्हारी उंगलियाँ तो तलवार से अधिक चल रही हैं। तुम पुरुष हो। युद्ध करो"[11] इसी बीच रामगुप्त शिखरस्वामी के साथ नशे में डूबा हुआ आता है और प्रसन्न होकर इनका नाटक देखने लगता है। रामगुप्त के सम्मुख यह प्रसंग आगे बढ़ने लगता है।

इस प्रकार 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में प्रसाद जी ने इन विकलांग पात्रों को प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया है। वे राजा और व्यवस्था के पौरुषहीन, मर्यादाहीन, कायर, स्वार्थांध, दायित्वहीन एवं लज्जाहीन होने को व्यक्त करते हैं। विकलांग पात्रों का यह चित्रण मात्र हास्यास्पद नहीं बल्कि रामगुप्त और शिखरस्वामी जैसे नपुंसक एवं मानसिक रूप से विकलांग पात्रों पर कटाक्ष भी करता है, क्योंकि ये दोनों उनकी तुलना में अधिक विकलांग हैं। इस दृष्टि से यह विकलांग प्रसंग रामगुप्त और शिखरस्वामी जैसे अकर्मण्य, सत्ताभोगी शासकों को प्रकारांतर से रेखांकित करता है, जो सत्ता में बने रहने के लिए किसी हद तक जा सकते हैं।

[10] जयशंकर प्रसाद, 'ध्रुवस्वामिनी', पृ. 13

[11] वही पृ. 14

धर्मवीर भारती कृत 'अंधायुग' 'काव्यनाटक' आस्था-अनास्था की टकराहट की गूंज नहीं वरन् हो रहे मानवीय मूल्यों की विकृति की जीवन्त गाथा प्रतीत होती है। शारीरिक रूप से विकलांगता मानसिक विकलांगता की तुलना में कम घातक है। 'महाभारत' के युद्ध में हुए भीषण नर-संहार जैसी त्रासदी इसी विकलांग मानसिकता की परिचायक हैं। धृतराष्ट्र दृष्टिहीन तो थे लेकिन राज-सत्ता के लोभ में उन्होंने अपनी विवेक दृश्टि भी खो दी थी। कृष्ण के बार-बार समझाने के बाद भी कौरवों ने असत्य और अधर्म का मार्ग नहीं छोड़ा। गांधारी ने तो जानबूझकर आँखों पर पट्टी डाली थी मानो पति की दृष्टिहीनता उस के लिए वरदान हो। दुर्योधन, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा जैसे सकलांग चरित्र विवेक और बुद्धि के अभाव में झूठे अहम् के कारण मानसिक विकलांगता के शिकार होते हैं। मानवीय मूल्यों की अपंगता के कारण अंधत्व केवल पात्रों में नहीं अपितु पूरे युग पर छाया हुआ है। भारती जी ने इसी ओर संकेत किया है।

भीष्म साहनी कृत 'हानुष' नाटक में हानुष की 'कला साधना' ही उसकी दृष्टिहीनता का कारण बनती है। हानुष एक कुल्फ़साज़ (घड़ी बनाने वाला) है। वह बारह वर्षों की कड़ी साधना के बल पर एक ऐसी घड़ी बनाता है, जिसकी तरह पूरे विश्व में दूसरी घड़ी नहीं होती। जब यह बात राजा को पता लगती है, तो राजा उसे अपने दरबार में दरबारी नियुक्त करता है साथ ही उसे यह भी भय होता है की कहीं हानुश ऐसी दूसरी घड़ी न बनाए इसलिए वह उसकी दोनों आँखे नष्ट कर देने का हुक्म देता है। दृष्टिहीन हानुष जीवन से हताश और निराश हो जाता है। वह प्रतिपल अपनी बनाई घड़ी को नष्टकर राजा से प्रतिशोध लेने की चेष्टा करता है। परंतु असफल रहता है। घडी में विकार आने पर दृष्टिहीन हानुष उसे अपनी स्पर्श क्षमता के द्वारा ठीक करता है।

हम देखते हैं कि सत्ता और कला और सृजन का द्वन्द इस नाटक के मूल में है। लेकिन अपने नागरिकों की रक्षा करने वाला शासक जब उनका भक्षक बन जाय, उन्हें अपनी झूठी शान के लिए विकलांग बनाए तो ऐसे में मानवता खतरे में आ जाती है।

निष्कर्ष : निःसंदेह इक्कीसवीं सदी के जिस दौर से हम गुजर रहे हैं, वहाँ जीवन मूल्य बदल रहे हैं। नवीन दृष्टिकोण विकसित हो रहे हैं। आवश्यकता है हमें विकलांगों के प्रति रूढ़िगत मानसिकता को बदलने की। साहित्य, समाज, राजनीति सभी क्षेत्रों में विकलांग जन के सहभागिता की। 'हिन्दी साहित्य' में विकलांग विमर्श की सुगबुगाहट होने लगी है। ऐसे में जरूरत है उसे विपुल और व्यापक बनाने की। विकलांगता की समस्याओं एवं संघर्षों को समाज के समक्ष प्रस्तुत करने की, जिससे साहित्य का उद्देश्य सिद्ध हो सके।

संदर्भ :

1 सिंह, बच्चन, 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1996

2 पांडेय, मैनेजर, 'भक्ति आंदोलन और सूरदास', वाणी प्रकाशन, तृतीय संस्करण 2001

3 साहनी, भीष्म, 'हानुष', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1977

4 प्रसाद, जयशंकर, 'ध्रुवस्वामिनी', भारती ज्ञानपीट प्रकाशन, दिल्ली, 2015

5 भारती, धर्मवीर, 'अंधायुग', किताबमहल, इलाहाबाद, संस्करण 2004

6 'जैनेंद्र कुमार की कहानियाँ', संपा. प्रदीप कुमार, अन्तर्भातीय पुस्तक माला, ग्रीनपार्क, दिल्ली, संस्करण 2005

7 सरावगी, अलका, 'कोई बात नहीं', राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, संस्करण 2015

8 प्रेमचंद, 'रंगभूमि', हिन्द पॉकेट बुक, शाहदरा, दिल्ली, संस्करण 1986

9 सिन्हा, मृदुला, 'ज्यों मेंहदी को रंग', प्रभात प्रकाशन, नोएडा, संसकरण 2015

In English :

1 Singh, Bachchan, 'Hindi sahitya kaa doosra itihaas', Radha-krishna prakashan, delhi, ad. 1996

2 Pandey, Manager, 'Bhakti Aandolan aur soordaas', Vaani prakashan, ad. 3 2008

3 Shaahani, Bhisham, 'Haanush', Rajkamal prakashan, delhi, ad. 1977

4 Prasad, Jaishankar, 'Dhruvswaamini', Bhaarti Gyaanpeeth prakashan, Delhi, ad. 2015

5 Bhaarti Dharmveer, 'Andhaayug', Kitaab Mahal, Illahabad, ad. 2004

6 'Jainendra Kumar ki Kahaaniyaan', Edi. Pradeep Kumar,National book trust, ad. 2005

7 Sarawagee, Alka, 'Koi baat nahi', Raajkamal Prakashan, Dariyaganj, Delhi, ad. 2015

8 Premchand, 'Rangbhoomi', Hind pocket book, Shaahdra, delhi, ad. 1986

9 Sinha, Mridula, 'jyon mehandi ko rang', Prabhat Prakashan, Noida, ad. 2015

****